International Journal of Academic Research and Development
ISSN: 2455-4197, Impact Factor: RJIF 5.22
www.academicsjournal.com
Volume 2; Issue 4; July 2017; Page No. 826-830

आलोचना की पोलिटिक्स और भक्ति काव्य

अरविन्द कुमार यादव

तदर्थ प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, शिवाजी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत।

प्रस्तावना

वर्तमान का अतीत से गहरा सम्बन्ध होता है, ऐसी स्थिति में अतीत की भूमिका मौन की नहीं होती। अतीत में एक तरह की मुखरता होती है, वह जड़ नहीं होता। वह सतत् परिवर्तनशील है। काल के किसी एक बिंदु पर अतीत एक चीज़ होता है।[1] अतीत हमें प्रेरणा देने के लिए है। अतीत से हम शिक्षा ले सकते हैं।[2] अतीत के संबंध में जो एक बात हम नहीं कर सकते वह ये कि हम उसे फिर से साकार कर दें। हम उसे सिर्फ नष्ट कर सकते हैं।[3]

भक्तिकाल को हम वर्तमान और अतीत के इन्हीं संबंधों के बीच देख सकते हैं। लेकिन इससे पहले विद्वानों और हिंदी के साहित्येतिहासकारों के भक्तिकाल विषयक दृष्टिकोण पर विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा।

भक्तिकाल के उदय के संबंध में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का बहुत बार दुहराया जा चुका मत है कि यह हताश हिंदू जाति के भक्ति के शरण में जाने और इस्लाम की प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ।[4] आचार्य शुक्ल ने अपने इस कथन में जिस प्रकार 'हताश हिंदू' और 'इस्लाम की प्रतिक्रिया' पदों का प्रयोग किया है, वह इतिहासकार के रूप में उनके द्वारा एक अवैज्ञानिक पद्धति के प्रयोग का प्रमाण और परिणाम है क्योंकि जिस भक्तिकाल की वे बात करते हैं उसी में इस बात की जाँच करने की जहमत नहीं उठाते कि खुद भक्तिकालीन कवियों के यहाँ इन पदों का प्रयोग हुआ है, या नहीं। अगर हुआ है तो किस रूप में। उन्होंने शायद इस सामान्य तथ्य पर ध्यान देना भी आवश्यक नहीं समझा कि 'प्रतिक्रिया' और 'प्रभाव' में अंतर होता है। इस प्रकार भक्तिकाल के संबंध में वे इतिहास पर अपना मत थोपते हैं। जिस समय और समाज में वे खड़े थे, उसकी बहुत सारी जटिलताओं और संश्लिष्टताओं को सुविधापूर्वक छोड़ते हुए एक सरलीकृत समझ और अपनी मान्यताओं के साथ वे भक्तिकालीन समय और समाज को देख रहे थे। (यहाँ यह गौरतलब है कि जब रामचंद्र शुक्ल यह कर रहे थे तब तक कांग्रेस के भीतर हिंदुओं और मुसलमानों को अलग-अलग अस्मिता (आइडेंटिटी) के रूप में देखा जाने लगा था।) वस्तुतः रामचंद्र शुक्ल का यह 'हताश हिंदू जाति' पद का प्रयोग पूँजीवादी उत्पादन संबंधों के प्रवेश के साथ या उसकी विशिष्टताओं के आगे हताश सामंती संस्कारों के लिए गरिमापूर्ण शरणस्थल साबित हुआ। यह उनके सृजनशील व्यक्तिवाद[5] की सीमा-रेखा थी जो सामंती संस्कारों के नए संस्करणों द्वारा तय की जा रही थी। इसके माध्यम से आधुनिक भारत के नवजागरण से ही उपस्थित साम्प्रदायिक पहचान को भी देखा जा सकता है। रामचंद्र शुक्ल के लिए वही महत्त्वपूर्ण रहा जो भक्ति काल ने हिंदुओं को दिया, मानवता के लिए या तत्कालीन समाज की प्रतिक्रियात्मक शक्तियों और सत्ता के खिलाफ जो रुख भक्तिकाल का रहा, उसे उन्होंने उतना खास नहीं समझा।

दूसरे साहित्येतिहासकार आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी इस मामले में सावधान रहे और उन्होंने इस सिलसिले में जो पद-समूह प्रयुक्त किए, वे हैं - 'हिंदीभाषी जन-समुदाय' और 'आज का हिंदू समाज'। 'हिंदी साहित्य : भारतीय चिंता का स्वाभाविक विकास' में वे लिखते हैं - ''आज से लगभग हजार वर्ष पहले हिंदी साहित्य बनना शुरू हुआ था। इन हजार वर्षों में भारतवर्ष का हिंदी भाषी जन-समुदाय क्या सोच-समझ रहा था, इस बात की जानकारी का एकमात्र साधन हिंदी साहित्य ही है।''[6] आगे वे लिखते हैं - ''अपनी बात को ठीक-ठीक समझाने के लिए मुझे और भी हजार वर्ष पीछे लौट जाना पड़ेगा। आज के हिंदू समाज में आज से दो हजार वर्ष पहले से लेकर हजार वर्ष पहले तक के हजार वर्षों में जो ग्रंथ लिखे गए, उनकी प्रामाणिकता पर बाद में चलकर कभी कोई संदेह नहीं किया गया और उन्हें ही यथार्थ में हिंदू धर्म का मेरुदंड कह सकते हैं।''[7] इन ग्रंथों में स्मृति, संहिता, सिद्धांत-ग्रंथ और पुराणों के अतिरिक्त बौद्ध और जैन धर्मग्रंथों के साथ शैव-शाक्त ग्रंथ भी लिखे गए। हिंदी भाषी जन समुदाय इन सब के प्रभाव में ही बन रहा था। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भक्तिकाल को पहले से चली आती हुई चिंता धारा के विकास के रूप में देखा जरूर, लेकिन भक्तिकालीन सामाजिक शक्तियों की शिनाख्त और उनका भक्तिकाल से सम्बन्ध; यह विषय उनकी चिंता प्रक्रिया से बाहर रहा, जिसे उन्होंने अपने विश्लेषण में शामिल करना आवश्यक नहीं समझा। जबकि अब तो यह तथ्य भी आ गया है कि तंत्र-मंत्रवाद वस्तुतः निचली जातियों या पुरोहिती समूह से बाहर रहने वाली जातियों की अपनी प्रतीकात्मक भाषाभिव्यक्ति थी।[8]

हजारी प्रसाद द्विवेदी की दूसरी सीमा है उनका संस्कृत प्रेम। उन्होंने लिखा है - हिमालय से सेतुबंध तक सारे भारतवर्ष के धर्म, दर्शन, विज्ञान, चिकित्सा आदि विषयों की भाषा कुछ सौ वर्ष पहले तक एक ही रही है। यह भाषा संस्कृत थी। भारतवर्ष का जो कुछ श्रेष्ठ है, जो कुछ उत्तम है, जो कुछ रक्षणीय है, वह इस भाषा के भंडार में संचित किया गया है। जितनी दूर तक इतिहास हमें ठेलकर पीछे ले जा सकता है, उतनी दूर तक इस भाषा के सिवा हमारा कोई सहारा नहीं है। ....

हमारे कम से कम छह-सात हजार वर्ष के विशाल इतिहास में अधिक से अधिक पाँच सौ वर्ष ऐसे रहे हैं जिनमें विदेशी भाषा (फारसी/अरबी) का आधिपत्य रहा। दुर्भाग्यवश इस सीमित काल और सीमित अंश में व्यवहृत भाषा का दावा आज हमारी भाषा समस्या का सर्वाधिक जबर्दस्त रोड़ा साबित हो रहा है.... इस विशाल देश की भाषा समस्या का हल आज से सहस्त्रों वर्ष पूर्व से लेकर अब तक जिस भाषा के जरिए हुआ है, उसके सामने कोई भी भाषा न्यायपूर्वक अपना दावा लेकर उपस्थित नहीं रह सकती, फिर वह स्वदेशी हो या विदेशी। इस धर्म के मानने वाले की हो या उस धर्म के। इतिहास साक्षी है कि संस्कृत इस देश की अद्वितीय महिमाशालिनी भाषा है : अविजित, अनाहत और दुर्द्धर्ष।[9]

इसमें हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भारत का कुल इतिहास सात हजार वर्ष माना है, अर्थात ईसवी सन् से 5000 साल पहले। इतिहास को वे जितना पीछे ठेलकर ले जाते हैं वहाँ उन्हें संस्कृत भाषा ही एक सहारा दिखती है। जब कि प्राचीनतम अभिलेखों (मौर्य साम्राज्य) और बौद्ध साहित्य की भाषा (छठी सदी ई.पू.) संस्कृत नहीं है। दूसरे डॉ. रामविलास शर्मा ने अपने मत में परिवर्तन करते हुए यह स्वीकार किया कि संस्कृत के व्यवहार से पहले भारत में संस्कृतेतर भाषा विद्यमान थी और खुद वैदिक भाषा ने उससे काफी कुछ ग्रहण किया। अभिलेखीय साक्ष्यों में देखा जाए तो पूर्णतः शुद्ध संस्कृत में लिखित उपलब्ध प्राचीनतम अभिलेख गुजरात में गिरनार स्थित शक नरेश रुद्रदामा प्रथम का है जो दूसरी ईसवी सदी का है।[10]

महाभाष्य के रचयिता पतंजलि का कहना है कि संस्कृत के एक सामान्य मानक शब्द के विपरीत अनेक गैर मानक एवं भ्रष्ट अपशब्द अथवा अपभ्रंश शब्द होते हैं।[11] अर्थात् संस्कृत शब्दों की तुलना में गैर-संस्कृत शब्दों में कहीं अधिक विकल्प उपलब्ध थे। ये विकल्प न केवल उन भाषाओं की सापेक्षिक समृद्धि दर्शाते हैं, बल्कि उनके संभावित व्यापक जनाधार की ओर भी इशारा करते हैं।[12] इस सम्बन्ध में बगैर किसी आग्रह और भाषाई झुकाव के निरपेक्ष विश्लेषण से यह बात सामने आती है कि संस्कृत उस समय की एक समानांतर भाषा थी, वह दूसरी भाषाओं की जननी नहीं थी। खुद हिन्दी के विकास की जो परंपरा भाषा वैज्ञानिकों ने अब तक दिखाई है उसमें भारत में आदिभाषा की शुरुआत वैदिक संस्कृत से मानी जाती है। अब इस मान्यता से भी हमें मुक्त हो ही जाना चाहिए, क्योंकि अब हमारे पास इस बात के पर्याप्त सबूत हैं कि पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि का विकास संस्कृत से नहीं बल्कि तत्कालीन समाज की जनभाषा से हुआ है।

हजारी प्रसाद द्विवेदी जिसे हिंदी भाषी जन समुदाय कहते हैं और जो भक्तिकाल में अपनी समृद्धि गाथा लिखते हैं, वह भी एक हजार साल पीछे से बन रहा था जिसका स्त्रोत संस्कृत से अधिक गैर-संस्कृत भाषाएँ थीं और जिसे वह आरोपित करके भारतीय चिंताधारा बताते हैं वह भी संस्कृत से इतर भाषा और उस भाषा समुदाय की देन अधिक है जिसे वे औपनिवेशिक सत्ता के खिलाफ बन रही 'भारतीयता' की समावेशी संस्कृति से ढँक देते हैं। इस प्रकार शुक्ल जी की 'हिंदू जाति' की जगह द्विवेदी जी की 'भारतीयता' ले लेती है।

हजारी प्रसाद द्विवेदी की तीसरी कमजोरी है अरबी-फारसी को भारत की भाषा समस्या का रोड़ा घोषित करना। असल में यह प्रतिक्रियावादी विचार हिंदी के संस्कृतीकरण की साजिश की उपज है। हिन्दी का संस्कृतीकरण हजारी प्रसाद द्विवेदी को उसी हिंदी भाषी जन समुदाय की ऐतिहासिक स्थितियों के पार्श्व में धकेल देता है जिसके बल पर वे रामचंद्र शुक्ल के मत से अपने को अलगाते हैं और नवजागरण की ही भाषाई बहस में अपने को संस्कृत से जोड़ते हैं। इस कड़ी में तीसरा मत हम मुक्तिबोध का लेंगे जो कहते हैं - ''भक्तिकाल की मूल भावना साधारण जनता के कष्ट और पीड़ा से उत्पन्न है। यद्यपि पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी का यह कहना ठीक है कि भक्ति की धारा बहुत पहले से उद्गत होती रही और उसकी पूर्व भूमिका बहुत पूर्व से तैयार होती रही, किन्तु उनके द्वारा निकाला गया यह तर्क ठीक नहीं मालूम होता कि मध्ययुगीन भक्तों की भावना में जनता के सांसारिक कष्टों के तत्व नहीं हैं। पंडित रामचंद्र शुक्ल के इस कथन में हमें पर्याप्त सत्य मालूम होता है कि भक्ति आन्दोलन का एक मूल कारण जनता का कष्ट है। किन्तु पंडित शुक्ल ने कष्टों के मुस्लिम विरोधी और हिन्दू राजसत्ता के पक्षपाती जो अभिप्राय निकाले हैं वे उचित नहीं मालूम होते। असल बात यह है कि मुसलमान संत मत भी उसी तरह कट्टरपंथियों के विरुद्ध था, जितना कि भक्तिमार्ग। दोनों एक दूसरे से प्रभावित भी थे किन्तु, इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि भक्ति भावना की तीव्र आर्द्रता और सारे दुखों और कष्टों के परिहार के लिए ईश्वर की पुकार के पीछे जनता की भयानक दुःस्थिति छिपी हुई थी। यहाँ यह हमेशा ध्यान में रखना चाहिए कि वह बात साधारण जनता और उसमें से निकले हुए संतों की है, चाहे वे ब्राह्मण वर्ग से निकले हों या ब्राह्मणेतर वर्ग से। साथ ही यह भी स्मरण रखना होगा कि शृंगार भक्ति का रूप उसी वर्ग में सर्वाधिक प्रचलित हुआ जहाँ ऐसी शृंगार भावना के परिपोष के लिए पर्याप्त अवकाश और समय था, फुरसत का समय। भक्ति आन्दोलन का आविर्भाव एक ऐतिहासिक सामाजिक शक्ति के रूप में जनता के दुखों और कष्टों से हुआ। यह निर्विवाद है।''[13]

मुक्तिबोध के सामने नवजागरण की शक्ति और सीमा दोनों स्पष्ट हो चुकी थी और आजादी के आन्दोलन में सक्रिय सामाजिक शक्तियों और उनके नेताओं की स्थिति भी। इसलिए मुक्तिबोध इतिहास, अतीत, परंपरा को बेहतर तरीके से देख पा रहे थे। जबकि वहीं उनके समकालीन कई बढ़े (धाकड़) मार्क्सवादी और गैर मार्क्सवादी आलोचक अब भी भ्रम के एक कुहासे से घिरे हुए थे।

बहरहाल, उपर्युक्त तीनों मतों का हमारे 'वर्तमान' से सीधा सम्बन्ध है, जिसका बहुत कुछ हिन्दी नवजागरण से तय हो रहा था। धर्म, सम्प्रदाय, जाति, भाषा से सम्बंधित जितनी भी समस्याएँ 'वर्तमान' के सामने हैं उनके बीज कहीं न कहीं औपनिवेशिक सत्ता के खिलाफ संघर्ष के दौरान बन रहे राष्ट्र के ही भीतर थे। ''आजादी की यह लड़ाई पुरानी सामाजिक शक्तियों की ही अगुआई में लड़ी गयी जो

टूटती सामंती सामाजिक संरचना से निकली थीं। ये वो लोग थे जो अपने को बचाने के लिए इतिहास की ठूंठ और झाड़-झंखाड़ (प्रतिगामी चीजों) का सहारा ले रहे थे। यही कारण है कि इस दौर में साहित्य में इतिहास, अतीत, परम्परा से जो कुछ लिया गया, उसमें से एक भी प्रतीक और व्यक्तित्व निर्गुणमार्गी भक्तिधारा से नहीं है जो अपनी अंतर्वस्तु में ज्यादा जनोन्मुख, क्रांतिकारी और जातिविरोधी था।''[14] भक्तिकाल के जिन दो व्यक्तित्वों, तुलसीदास और कबीर पर इस दौर में ध्यान दिया गया उसमें साधारण जनों के लिए कबीर का सदाचारवाद तुलसी के सन्देश से अधिक क्रांतिकारी था।[15] इसके बावजूद, रामचंद्र शुक्ल के प्रिय तो तुलसीदास थे ही, हजारी प्रसाद द्विवेदी के भी प्रिय तुलसीदास ही थे। उन्होंने तुलसी को 'उत्तर भारत के गले का हार' कहा है। फिर निराला को भी जो व्यक्तित्व भाया वह तुलसीदास का ही था, और यह सब कुछ महज एक संयोग नहीं था। मुक्तिबोध लिखते हैं - ''एक बार भक्ति-आन्दोलन में उच्चवर्गों ('पुरोहितवाद या सामंती व्यवस्था का बौद्धिक वर्ग' -ले.) का प्रभाव जम जाने पर वर्णाश्रम धर्म की पुनर्विजय की घोषणा में कोई देर नहीं थी। ये घोषणा तुलसीदास ने ही की थी। निर्गुण मत में निम्न जातीय धार्मिक जनवाद का पूरा जोर था, उसका क्रांतिकारी सन्देश था। कृष्ण भक्ति में वह बिल्कुल काम हो गया, किन्तु फिर भी निम्न जातीय प्रभाव अभी भी पर्याप्त था। तुलसीदास ने भी निम्नजातीय भक्ति स्वीकार की, किन्तु उसको अपना सामाजिक दायरा बता दिया। निर्गुण मतवाद के जनोन्मुख रूप और उसकी क्रांतिकारी जातिवाद-विरोधी भूमिका के विरुद्ध तुलसीदास जी ने पुराण मतवादी स्वरूप प्रस्तुत किया।''[16] ''किन्तु साथ ही यह भी ध्यान में रखना होगा कि साधारण जनता ने राम को अपना त्राणकर्ता भी पाया, गुह और निषाद को अपनी छाती से लगाने वाला भी पाया। एक तरह जनसाधारण की भक्तिभावना के भीतर समाये हुए सामान प्रेम का आग्रह भी पूरा हुआ किन्तु वह सामाजिक ऊंच-नीच को स्वीकार करके ही।''[17]

दरअसल औपनिवेशिक भारत में बौद्धिक धरातल पर आ रहे परिवर्तनों में, दो क्षेत्रों में एक साथ जारी सांस्कृतिक-विचारधारात्मक संघर्षों की केन्द्रीय भूमिका थी। इनमें एक था परम्परागत व्यवस्था के विचारधारात्मक आधार के खिलाफ संघर्ष; और दूसरा था औपनिवेशिक वर्चस्व-स्थापन के खिलाफ संघर्ष। ... ''जहाँ परम्परागत संस्कृति पश्चिम द्वारा प्रस्तुत सांस्कृतिक चुनौती का सामना करने के लिए अपर्याप्त दिखाई दे रही थी वहीं औपनिवेशिक वर्चस्व-स्थापन तो परम्परा को ही खत्म करता दिखाई दे रहा था। इसलिए इन दोनों के खिलाफ बौद्धिक संघर्ष छिड़ा और यही संघर्ष औपनिवेशिक भारत की बौद्धिक परिस्थितियों को गढ़ रहा था।''[18]

''भारतीय समाज के भविष्य को रूप देने की यह बौद्धिक तलाश, जो इस दुहरे संघर्ष पर आधारित थी, परम्परा तथा आधुनिकता के प्रति अपने रुख में दुविधाग्रस्त और अक्सर अंतर्विरोधग्रस्त बनी रही।''[19] यही दुविधा अतीत को परखने और भविष्य को गढ़ने में सामने आ रही थी। ''सच तो यह है कि पराधीन जनगण के लिए इतिहास इसकी संभावना ही प्रस्तुत नहीं कर रहा था कि वे अतीत और भविष्य के बीच एक स्पष्ट विभाजन कर सकें। इसके चलते अतीत और भविष्य की उनकी (बौद्धिक वर्ग की) धारणाएं अक्सर परस्पर अतिक्रमण करती हैं। सांस्कृतिक-विचारधारात्मक संघर्षों की दिशा तथा उनके चरित्र को, इसी अतिक्रमणशीलता से उत्पन्न अस्पष्टता तथा अनिश्चितता प्रभावित कर रही थी।''[20]

हिन्दी नवजागरण से निकले बौद्धिक वर्ग के सामने यही समस्या थी। इस पूरे दौर में एक प्रेमचंद ही ऐसे हैं जो अपने को इससे क्रमशः निकालते हैं, वर्ना उनके समकालीनों में रामचंद्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, निराला, जयशंकर प्रसाद आदि के यहाँ अतीत और भविष्य को लेकर अतिक्रमण, दुविधा, अंतर्विरोध मौजूद है। लेकिन मुक्तिबोध की स्पष्ट दृष्टि इसे जिस रूप में देखती है, उसकी अभिव्यक्ति इन शब्दों में हुई है - ''इस सर्वशक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्यवाद के भीतर भारतीय औपनिवेशिक पूँजीवाद का उदय हुआ। विश्व पूँजीवाद के भीतर अखिल भारतीय अर्थ-तंत्र भी पूँजीवादी हो गया था, किन्तु विशाल सामंती ध्वंसावशेष अपनी बूढ़ी मीनारों के साथ अभी भी सीना ताने खड़े हुए थे। ... उन सामंती प्रभावों की रूपांतरित आदर्श छायाओं ने स्थित्यात्मकता को जन्म दिया। इस स्थित्यात्मकता में व्यक्ति-मन छटपटाने लगा। यह छटपटाहट तभी दूर हो सकती थी जब उसको क्रांतिकारी सामाजिक दर्शन प्राप्त होता, जिसमें जनता के वास्तविक सामाजिक क्रांतिकारी हितों के सामंजस्य में व्यक्ति की तृषाओं की पूर्ति तथा उपलब्धि होती। किन्तु उन दिनों वैसा नहीं हो सकता था।''[21]

यद्यपि वह युग अद्वैतवादी-रहस्यवादी दार्शनिक विचारों तथा नवीन परिष्कृत धर्म-सम्प्रदायों और समाज-सुधारों का था, लेकिन सुधार केवल ऊपरी ही रहे। भारतीय परिवारों की वास्तविक सामंती प्रभाव-श्रृंखलाएँ घनीभूत ही रहीं। यह इसलिए हुआ कि तत्कालीन उत्तर प्रदेश और बंगाल आदि प्रान्तों के भीतर सामंती शोषण-व्यवस्था कमर कसकर खड़ी थी। दूसरे, जो औद्योगिक पूँजीपति न थे, मात्र व्यापारी थे, उनमें सामंती प्रभाव-छायाएं विशेष रूप से घनीभूत थीं। वे अभी तक सामंती-व्यवस्था से पूरा छुटकारा न पा सके थे। ''फलतः नवीन व्यक्तिवाद से संपन्न होकर धर्म एक नए रूप में आया, समाज-सुधार की बात केवल शाब्दिक होकर रह गयी और लोग सामंती प्रभावों का आदर्शीकरण करने लगे।''[22] राजनीति में भी यही हो रहा था जिसके नेता गांधी थे। साहित्य-संस्कृति में भी यही हो रहा था। इसी विचार-सरणी के भीतर अतीत को देखा गया, भक्तिकाल को भी देखा गया, और संत मत की अपेक्षा उसमें से इस तरह के सांस्कृतिक व्यक्तित्व छांटकर निकाले गए जो इस आदर्शीकरण के अनुकूल थे।

इस क्रम में वे यह भी भूल गए कि भविष्य इसकी सजा भुगतेगा। हमारे देश का मौजूदा वर्तमान आज इन्हीं गलतियों के परिणामों से रू-ब-रू है। जाति, धर्म, सम्प्रदाय, भाषा इन सभी का जनोन्मुख रूप, जो भक्तिकालीन संत मत में पूरी प्रतिष्ठा पा चुका था, हिंदी के बौद्धिकों के बीच प्रतिष्ठा नहीं पा सका। आज जब नव साम्राज्यवादी सांस्कृतिक हमला और तेज़ होकर पलटा है तो फिर से हमारे सामने अतीत और भविष्य को लेकर सवाल खड़े होने लगे हैं।

भक्तिकाल के संत मत ने जिन सामंती संस्थाओं का ज़बर्दस्त विरोध किया, उदारीकरण ने उन्हीं संस्थाओं को फिर से ताकतवर बनाया है। ''धर्म का जो मानवीय रूप हो सकता था, जो मानव मुक्ति का भी एक साधन हो सकता था, भक्तिकालीन संतों ने उसे प्रस्तुत किया। आज सांस्कृतिक राष्ट्रवादियों और बाजार की ताकतों के द्वारा उसी धर्म के मनुष्य विरोधी संकीर्ण रूप को मजबूत किया जा रहा है। जनोन्मुख भाषा का जैसा विस्तार भक्तिकाल में मिलता है, वह फिर कभी सम्भव नहीं हो पाया। आज उन भाषाओं के सामने संकट है। अभी भारतीय संस्कृति की एक विशेष पहचान बनाने की कोशिश की जा रही है। इसमें मुख्य उद्देश्य यही है कि भारत और भारतीयता की परिभाषा यहाँ के तथाकथित मूल निवासियों की पहचान के संदर्भ में की जाए। एक तरफ जहाँ धर्म का सहारा लेकर इसे हिंदू धर्म और हिंदुत्व की एकरूपी परिधि से सीमित किया जा रहा है, वहीं दूसरी ओर पूरी भारतीय संस्कृति को केवल संस्कृत भाषा और साहित्य की ही देन बताकर उसके वास्तविक और ऐतिहासिक रूप की हत्या की जा रही है।''[23] अब अगर हम भक्तिकाल को देखें तो कबीर ने संस्कृत को 'कूप जल' कहा है, ऐसे में कबीर पर विस्तृत अध्ययन करने वाले हजारी प्रसाद द्विवेदी एक तरफ कहते हैं कि कबीर भाषा के डिक्टेटर हैं और दूसरी तरफ संस्कृति निर्माण में संस्कृत भाषा तक अपने को सीमित कर लेते हैं और कहते हैं कि कबीर पढ़े-लिखे होते तो संस्कृत की महिमा जान पाते। यानी कबीर अपने समय और समाज को तो खूब अच्छी तरह समझ रहे थे लेकिन हजारी प्रसाद द्विवेदी के हिसाब से भाषा की उनकी समझ उनके न पढ़े-लिखे होने से सीमित होती है। कबीर पढ़े-लिखे होने के अभाव में संस्कृत को 'कूप जल' कह बैठे लेकिन पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी खुद यह जान न पाए कि संतों ने पूरे देश में संस्कृत को क्यों नहीं अपनाया। चाहे बंगाल, असम हो, तब का महाराष्ट्र हो, या राजस्थान और मध्य प्रदेश का कोई भाग हो। आखिर नई भाषा की जरूरत क्यों पड़ी, और इन संत कवियों ने जिन हिंदी, मराठी, बंगाली, पंजाबी आदि भाषाओं को गढ़ा, क्या उससे भारत की संस्कृति के निर्माण में कोई मदद नहीं मिली। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने संस्कृत मोह के चलते संस्कृत की औपचारिक और ''अच्छी शिक्षा प्राप्त कवि विद्यापति की ''सक्कय वाणी बुहुजन भावइ। पै अंतस को मम्म न पावइ'' की उक्ति पर भी विचार करना जरूरी नहीं समझा। भक्तिकालीन संत मत की सबसे बड़ी खासियत में से एक है उसकी सेकुलर लीगेसी, जिसे मुक्तिबोध निम्नजातीय धार्मिक जनवाद कहते हैं।''[24] वह अपनी अभिव्यक्ति में भले ही अलौकिक सत्ता को सम्बोधित करते हैं लेकिन उसकी कार्यकारी शक्ति तो मनुष्य समाज का सत्य ही है। मुक्तिबोध लिखते हैं - ''कबीर, रैदास आदि संतों की बानियों का संदेश बहुत अधिक क्रांतिकारी था। यह आकस्मिकता न थी कि चंडीदास कह उठते हैं -

''शुनह मानुष भाई,
शबार उपरे मानुष-सत्य
ताहार उपर नाई''

इस मनुष्य सत्य की घोषणा के क्रांतिकारी अभिप्राय कबीर में प्रकट हुए।''[25] जबकि आधुनिक भारत के सुधारवादी आंदोलन को देखा जाए तो उसमें जातिवाद, धार्मिक पाखंड, अंध विश्वास, कुरीति और सामंती व्यवस्था के खिलाफ वह आक्रामकता नहीं है जो भक्तिकालीन संत मत में है। निर्गुण संत मत में राम और कृष्ण की पौराणिक चरित कथाओं के नकार के स्पष्ट सामाजिक मायने थे। राजपूत काल, जिसमें वर्ण और धर्म जैसी सामाजिक संस्थाएँ रूढ़ होती हैं उसमें यह देखा गया कि शासक वर्ग अपने को पुराणों में दी गई वंशावली से सम्बद्ध कर लेता था। किसी भी पौराणिक चरित्र को आधार बनाने का सीधा मतलब था कि उस व्यवस्था की मूल खामियों पर उदार हो जाना। सगुण भक्त कवियों ने इसे सिद्ध किया। आगे चलकर इसीलिए हिंदी नवजागरण के बौद्धिकगण दुविधाग्रस्त होते हैं। राम और कृष्ण को नायक बनाकर औपनिवेशिक वर्चस्व स्थापन को विस्थापित तो नहीं ही किया जा सका, उल्टे हुआ यह कि भारतीय राष्ट्रवाद की अवधारणा में ऐसा तत्व समाविष्ट हुआ जिसका खामियाजा आज का हिंदुस्तानी राष्ट्र भुगत रहा है, अर्थात भारतीय राष्ट्रवाद और हिंदू राष्ट्रवाद के बीच जो मोटी दीवार होनी चाहिए थी, उसकी जगह एक बारीक झिल्ली भर बची है।

वीरभारत तलवार इस खतरे के प्रति अपनी सचेतनता के तहत साम्प्रदायिकता की जड़ तलाशते हैं और इसी प्रक्रिया में वे हिंदी नवजागरण तक पहुँचते हैं लेकिन यह उसका निहित सत्य है कि उसमें साम्प्रदायिक राजनीति के लिए कुछ नहीं था, फिर ऐसा कैसे हुआ?

हिंदी नवजागरण को खुद उसके भीतर अगर देखा जाए तो यह तो मिलता ही है कि हिंदी गद्य इस दौरान अस्तित्व में आई एक नई चीज़ थी और इसकी जो भी प्रारम्भिक इतिहास-वंश-परम्परा आदि निर्धारित की जा रही थी वह सब कार्य पश्चिम के प्राच्यवादी विद्वानों के द्वारा किया जा रहा था। उनमें से अधिकांश विद्वान औपनिवेशिक हितों के प्रति पूरी तरह सचेत थे। समस्त हिंदी लेखन के सहारे अगर कोई धर्म, साम्प्रदायिकता आदि की कोई व्याख्या जानना चाहे तो उसे कुछ भी हासिल नहीं होगा क्योंकि धर्म और विभिन्न सम्प्रदायों के तत्व सम्बंधी विवेचन या इसकी कोई भी अभिव्यक्ति संस्कृत भाषा में ही अधिक है। यह अनायास नहीं है कि 1773 ई. में जब हेस्टिंग्स बंगाल में कंपनी शासन को स्थायित्व देने की प्रक्रिया में बढ़ा तो उसने सबसे पहले संस्कृत पर ध्यान दिया। यह सिर्फ भारत को जानने भर के लिए नहीं था। इसकी अगली कड़ी के रूप में 1801 ई. में हिंदी गद्य पर ध्यान दिया जाता है और फिर 1843 ई. में गार्सा द तासी द्वारा इसके इतिहास के निर्माण का जो कार्य शुरू होता है वह इसी ज्ञान राशि को समृद्ध करता है और हिंदी नवजागरण में इसी ज्ञानराशि को अनजाने में सहज रूप से या फिर कहें कि अंग्रेजों द्वारा किये जा रहे शैक्षिक निर्माण (स्कूलिंग) के मार्फत स्वीकार किया गया। बावजूद इसके हिंदी नवजागरण के प्रारम्भिक अग्रदूतों ने अपने विवेक पर हिंदी जातीयता की तलाश को संस्कृत तक नहीं पहुँचाया और बाद में जब हिंदी-उर्दू को लेकर खींचतान शुरू हुई तो भी इन सभी का जोर सिर्फ नागरी लिपि पर रहा, न कि इसकी जड़ को खींच कर संस्कृत तक पहुँचाने

का। हजारी प्रसाद द्विवेदी ऐसे ही विद्वान थे। संस्कृत में ही भारतीय संस्कृति को ढूँढ़ने का उनका प्रयास भी इसी कारण था। कबीर पर प्रसिद्ध पुस्तक लिखने वाले हजारी प्रसाद द्विवेदी भाषा और संस्कृति के सवाल पर उतने सचेत साबित नहीं हुए जितने कि अपने समय में कबीर थे। जब कबीर संस्कृत को 'कूप जल' कह रहे थे, ईश्वर को निर्गुण बताकर उसे वेदों-पुराणों से बाहर ढूँढ़ने की बात कह रहे थे तो उसके बहुत स्पष्ट कारण थे, क्योंकि ऐसा किए बगैर वर्णव्यवस्था के प्रति उनकी या संत मत की आक्रामकता की पूरी धार ही भोथरी हो जाती।

संदर्भ

1. धर्म, समाज और संस्कृति - कृष्ण मोहन श्रीमाली, पृ. 143-144.
2. धर्म, समाज और संस्कृति - कृष्ण मोहन श्रीमाली, पृ. 145.
3. धर्म, समाज और संस्कृति - कृष्ण मोहन श्रीमाली, पृ. 145.
4. हिन्दी साहित्य का इतिहास - रामचंद्र शुक्ल।
5. कामायनी : एक पुनर्विचार - मुक्तिबोध।
6. हिन्दी साहित्य की भूमिका - हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 15.
7. हिन्दी साहित्य की भूमिका - हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 16.
8. धर्म, समाज और संस्कृति - कृष्ण मोहन श्रीमाली।
9. भाषा, साहित्य और देश - हजारी प्रसाद द्विवेदी (उपर्युक्त में उद्धृत, पृ. 173-174).
10. भाषा, साहित्य और देश - हजारी प्रसाद द्विवेदी (उपर्युक्त में उद्धृत, पृ. 174).
11. भाषा, साहित्य और देश - हजारी प्रसाद द्विवेदी (उपर्युक्त में उद्धृत, पृ. 175).
12. भाषा, साहित्य और देश - हजारी प्रसाद द्विवेदी (उपर्युक्त में उद्धृत, पृ. 75).
13. नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध - मुक्तिबोध, पृ. 92.
14. नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध - मुक्तिबोध, पृ. 90.
15. नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध - मुक्तिबोध, पृ. 90.
16. नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध - मुक्तिबोध, पृ. 90.
17. नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध - मुक्तिबोध, पृ. 93.
18. संस्कृति, चेतना, विचारधारा - एक ऐतिहासिक परिदृश्य - के.एन. पणिक्कर, पृ. 1.
19. संस्कृति, चेतना, विचारधारा - एक ऐतिहासिक परिदृश्य - के.एन. पणिक्कर, पृ. 1.
20. संस्कृति, चेतना, विचारधारा - एक ऐतिहासिक परिदृश्य - के.एन. पणिक्कर, पृ. 2.
21. कामायनी : एक पुनर्विचार - मुक्तिबोध, पृ. 125.
22. कामायनी : एक पुनर्विचार - मुक्तिबोध, पृ. 125.
23. धर्म, समाज और संस्कृति - कृष्ण मोहन श्रीमाली, पृ. 171.
24. नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध - मुक्तिबोध, पृ. 92.
25. नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध - मुक्तिबोध, पृ. 88-8